© INTERNATIONAL JOURNAL FOR RESEARCH PUBLICATION & SEMINAR
ISSN: 2278-6848 | Volume: 06 Issue: 01 | March – April 2015

समकालीन हिन्दी कविता में संबंध: नवीन संतुलन

डा0 राममेहर सिंह, सह-प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग
छोटूराम किसान स्नातकोत्तर ,महाविद्यालय,जीन्द।

© iJRPS International Journal for Research Publication & Seminar

सभ्यता के विकास का सूत्र मनुष्य की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। समाज केवल मानव समूह का नाम नहीं है। जब तक विशिष्ट मानव-समूह किन्हीं अन्त: सूत्रों द्वारा परस्पर जुड़ा नहीं होता, उसे समाज कहना उचित नहीं है। समाजशास्त्रियों के अनुसार किसी समाज की विशिष्टता उसकी प्रथाओं, प्रणालियों, सत्ता और सहयोग के रूपों, विभाजन के आधारों, मानव व्यवहार के विधि-निषेधों में रहती है। समाज निरन्तर परिवर्तनशील रहता है और उसके घटकों को जोड़े रखने वाले सम्बन्ध भी जटिल होते हैं। यों तो प्रत्येक संस्कृति में इन संबंधों की रूपरेखा विशिष्ट होती है, किन्तु अन्तत: मानव हृदय सर्वत्र एक है, इसलिए संबंधों की पारस्परिकता और उनमें अन्तर्निहित सौहार्द और विश्वास बहुत कुछ एक रूप ही है। यह हम पारिवारिक संबंधों की चर्चा नहीं करेंगे, क्योंकि उनका आयाम स्वतंत्र विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। यहाँ मुख्यत: उन सूत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, जिनसे सामाजिक परिप्रेक्ष्य में कोई सार्थक मानवीय संबंध जुड़ता है, मैत्री, कृतज्ञता, सौहार्द, सहयोग, विश्वास, आत्मीयता, स्नेह, सौजन्य, आतिथ्य आदि कुछ ऐसे ही सूत्र हैं।

भारतीय संस्कृति में सामाजिक संबंध के आधार अनेक पौराणिक पात्रों के चरित्रों द्वारा स्पष्ट हुए हैं। उदाहरणार्थ राम में मैत्री, कृतज्ञता सहयोग, आत्मीयता को सुग्रीव के साथ्ज्ञ संबंध में देखा जा सकता है। महाभारत में कर्ण का चरित्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। महाभारत की अनेक कथाओं में शरणागत वत्सलता व आतिथ्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। आधुनिक कालीन हिन्दी साहित्यि के प्रारम्भिक चरण में यद्यपि इन संबंधों का विस्तृत चित्रण नहीं हुआ है, फिर भी रचनाकारों ने इस ओर ध्यान दिया है। 'प्रसाद' के नाटक और प्रेमचन्द के उपन्यास तो इस दिशा में विशेषत: दृष्टव्य हैं। कवियों में गुप्त जी विशेषत: उल्लेखनीय है। इसी बीच जगत में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए हैं जिसका बहुत गहरा प्रभाव सारी मानव जाति पर पड़ा है। विज्ञान ने मनुष्य के जीवन और उसके चिन्तन में आमूल परिवर्तन कर दिया है। मशीनीकरण से जो गतिशीलता आई, मनुष्य स्वयं को उतना गतिशील बनाने के प्रयास में बहुत कुछ विशेषत: भावना छोड़ता गया। भौतिक मूल्यों का प्राधान्य हो गया। विश्व युद्ध की विभिषिका ने मनुष्य के विश्वासों को हिला दिया। औद्योगीकरण ने कृषि युग के समाज को तो मिटा दिया, लेकिन किसी नये समाज का रूप नहीं उभर सका। समाज के विभिन्न घटकों के

बीच कोई सार्थक संबंध यदि रहा, तो वह अर्थ (धन) का ही था- हार्दिकता लुप्त हो गई। औद्योगीकरण ने शहरों में भीड़ बढ़ा दी। इस भीड़ में मनुष्य ने स्वयं को खो दिया। अपरिचय और अजनबीपन के विषैले पौधे चारों ओर उग आए।

साहित्य में इस स्थिति को लेकर अनेक प्रकार की रचनाएं दिखाई देती हैं। कथा साहित्य में विशेषतः कतिपय पात्रों के जीवन में अकेलेपन और टूटन का प्रभावशाली अंकन हुआ है। समकालीन हिन्दी कविता में भी नवीन नागर सभ्यता में हर व्यक्ति की अपनी व्यस्तताओं के बीच खालीपन की पीड़ा के अनेक चित्र आए हैं। नगर के व्यक्ति को अपने में ही उलझा देखकर 'बाहर' से आया व्यक्ति ठीक ही सोचता है:-

शहरों में इसकी सख्त मनाही है
कि कोई किसी से बिना जान-पहचान के बोले
और कहे कि देखो बहार आई है।

अज्ञेय ने कैंकड़े के प्रतीक द्वारा आधुनिक समाज में व्याप्त उदासीनता और ठंडेपन की ओर संकेत किया है।[1]

क्या समय आ गया है कि लोगों में जीवन की सहजता विस्मृत कर दी है। उपेक्षा और उदासीनता के कवचों में ही सुरक्षा का अहसास रह गया है।[2] संबंधों की असमय मौत का खुलासा यह है कि आज व्यक्ति बहुत दूर तक आत्म-सीमित हो चुका है कि वह स्वयं से असम्बद्ध किसी घटना से कोई सरोकार नहीं रखना। पड़ोसी, मित्र, भाई-बहन, पुत्र, पत्नी आदि सभी के प्रति वह तटस्थ है। देश पर आक्रमण हो, दंगे फैले, पड़ोस में बीमारी फैले, मित्र परेशान हो, बहन तलाक ले, पुत्र नौकरी छोड़ दे- उसे किसी से मतलब नहीं। यहां तक कि पत्नी मर जाए तो इस घटना को भी वह सहज स्वीकार कर लेगा।[4]

किरण जैन की एक कविता में व्यक्त यह भाव की व्यक्ति में सामाजिकता का सर्वथा अभाव हो गया है, कुछ अतिरंजना जान पड़ती है। परन्तु यह चित्र निराधार नहीं है। व्यक्ति में आत्मकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती जा रही है। इसी कारण उसमें किसी अन्य के प्रति आत्मीयता का भाव क्रमशः लुप्त हो रहा है, और एक औपचारिकता उसके व्यवहार का अंग बनाती जा रही है। अज्ञेय ने 'हमारे सारे लोकाचार राख की युगों-युगों की परतें' कहकर इसी ओर संकेत किया है। समाज में बढ़ती हुई औपचारिकता का चित्रण कई रचनाओं में हुआ है। जगदीश चतुर्वेदी का अनुभव है कि आज मानव अपनी पत्नी, प्रेयसी, मित्र, अधिकारी सभी से कृत्रित स्वर से बात करता हुआ

मिलता है। भाव और वाणी में सहज आत्मीयता लुप्त हो गई है। सभी लोग एक-दूसरे से खीजे रहते हैं-चाहे बस कण्डक्टर से बात हो रही हो, चाहे किसी पड़ोसी से।[5] रवीन्द्रनाथ त्यागी ने आधुनिक मानव को सर्वथा भावना शून्य दिखाया है, जिसमें किसी अजनबी की सहायता करने की प्रेरणा नहीं उठती अपितु वह दूसरे के कष्ट में आनन्द लेता है। बड़े नगरों में प्रायः दिखाई देने वाला यह दृश्य इस संबंध में दर्शनीय है-

चौराहे पर इतनी भीड़!
टकराया कोई दूध की गाड़ी से
कितने नाराज हैं लोग
साइकिल से गिरे बच्चे
और उसके बाप में से
कोई भी नहीं मरा।[6]

आज के जीवन में बढ़ती हुई व्यावसायिक प्रवृत्ति का सामाजिक संबंधों पर बहुत दुष्प्रभाव पड़ा है। केशवचन्द्र वर्मा ने 'दोस्ती के व्यापार' का जिक्र करते हुए आधुनिक समाज की उस प्रवृत्ति का उपहास किया है जो हँसी-मजाक, प्यार, हमदर्दी, धूमधाम आदि सभी को व्यवसायिक दृष्टि से देखती है।[7] उमाकान्त मालवीय ने 'नून तेल' के चक्कर में फँसे व्यक्ति की विवशताओं का उद्घाटन किया है जिससे वह भले-बुरे का विवेक खो बैठता है और किसी को भी निन्दा-चुगली करता रहता है। उसमें स्वाभिमान का लेशमात्र भी नहीं रहा। बस पुंसत्वहीन विवशता और क्रोध ही उसकी पूंजी है। मानव-मानव के बीच आज जो सिर्फ धन का नाता रह गया है, वीरेन्द्र कुमार जैन ने उसके प्रति क्षोभ प्रकट किया है। कवि का विश्वास है कि धन और वैयक्तिक अधिकार महिषासुर के समान हैं और जब तक यह महिषासुर मर नहीं जाता, जब तक मानव-मानव के बीच का नाता आत्मा का नहीं हो जाता:-

''तब तक राम, कृष्ण, बुद्ध, महाबीर,
ईसा मोहम्मद के योग-आध्यात्म के सारे उपदेशों के बावजूद
सारे ज्ञान-विज्ञान की प्रगतियों के बावजूद
चेतन पर अचेतन की विजय सदा होनी है
देव पर दानव की विजय सदा होनी है।''[8]

धन और वैयक्तिक अधिकार को खत्म करने की यह बात बहुत कुछ मार्क्सवादी विचारधारा के अनुरूप है। किन्तु पूंजीवादी समाज की कटु सच्चाई तो यह है ही। और इसमें भी सन्देह नहीं कि आधुनिक युग में धन ने मनुष्य की मनुष्यता को दबा लिया है जिसके परिणामस्वरूप वह समाज के अन्य लोगों के प्रति अपना दायित्व और सौहार्द-भाव भूल गया है। बीरेन्द्र मिश्र ने मसाज को द्वितीय महासमर के दुष्परिणामों से ग्रस्त दिखलाया है, जहां स्नेह के स्थान पर पाखण्ड का बोलबाला है। 'प्यार' जैसी कोमलभावना दीवार पर लगे पोस्टर की भांति प्रदर्शन की वस्तु है। सहयोग एवं पारस्परिकता के अभाव में समाज आत्मसीमित व्यक्तियों का पुंज मात्र रह गया है। इस प्रकार समाज की आधार-भित्ति ही खिसक चली है।

यहां कतिपय ऐसी रचनाओं की चर्चा भी संगत होगी जिनमें वर्तमान समाज का बड़ा भयावह चित्र अंकित किया गया है। कैलास वाजपेयी के अनुसार इस समाज में लोग झूठ बोलते हैं, एक-दूसरे से घृणा करते हैं, अपरिचय के माध्यम से जुड़ते है और बिछुड़ जाते हैं। एक-दूसरे को धोखा देते हैं और परिणामतः स्वयं भी धोखा खाते हैं। परस्पर कुत्तों की तरह लड़ते हैं, एक-दूसरे से डरते हैं। सभ्यता की इस उपलब्धि पर कवि व्यंग्य करता है जिसने सबको बराबर अमानव बना दिया है।[9] हरिहर सिंह का भी अनुभव है कि लोग पड़ोसी तो क्या, उसके कुत्ते को भी देखकर मुँह बिचका देते हैं, यह कवि को लगता है।

आधुनिक समाज में व्यक्ति के अकेलेपन की समस्या को अनेक कवियों ने उठाया है। आज सामाजिक संबंध प्रायः स्वार्थ पर टिके हैं, इसलिए वे अधिक देर तक स्थिर नहीं रहते। इन संबंधों की अस्थिरता पर हरिहर सिंह की यह टिप्पणी बड़ी सटीक जान पड़ती है-

''सम्बन्ध
महज एक झोंके की प्रतीक्षा में,
डाल से लगा एक पीला पत्ता''

संबंधों की यह अस्थिरता एवं अनिश्चितता संवेदनशील व्यक्ति में विषाद एवं रिक्तता भर देती है। कीर्ति चौधरी को लगता है कि समाज में आहत एकाकी का समभागी बनाने वाला या पर दुःख बांटने वाला कोई नहीं है। पीड़ा देने वाले तो बहुतेरे हैं, किन्तु पीड़ा भोगने के लिए व्यक्ति नितान्त अकेला है।''[11] नागर जीवन कीय यांत्रिकता एवं व्यस्तता को अनेक कवियों ने संबंधों के विघटन का कारण बतलाया है। जगदीश चतुर्वेदी के शब्दों में 'नगरों का जीवन यांत्रिक हो गया है। व्यस्तता में लीन एक अजीब सी उमस और अजनबियत तथा अकेलेपन की भावना हम में घर करती जा रही है।

यही संवेदना हमारी काव्य प्रणालियों में भी परिलक्षित होती है। महानगरों में सदैव भीड़ से घिरे रहने पर भी ऐसा लगता है कि सभी अपरिचित हैं, और अपरिचितता और एकांगता का बोध ही उन आधुनिक संस्कारों को जन्म देता है जो आधुनिक कवि को व्यक्तिपरकता की ओर खींचते हैं।'[12] स्वयं जगदीश चतुर्वेदी की रचनाओं में एकाकीपन और जज्जन्य छटपटाहट एवं व्यर्थता की अनुभूति दिखाई देती है :-

एकाकी जीवन के तीक्ष्ण प्रहारों ने
मेरे डैने काट दिए हैं
मैं परकटे पक्षी सा
छटपटा रहा हूँ
तड़प रहा हूँ
जिन्दगी में कहीं कुछ नहीं .....

अकेलेपन से आक्रान्त व्यक्ति की यातना तब और गहरी हो जाती है, जब वह अपने चारों ओर की बढ़ती भीड़ में कोई साथी नहीं पाता। प्रभाकर माचवे के शब्दों में आधुनिक मानव की कैसी विडम्बनापूर्ण स्थिति है-

जितना ही मैं भीड़ भड़ाके में जाता हूँ
उतना ही क्यों घोर अकेलापन पाता हूँ।''[13]

जैसे हर मनुष्य मानव-समुद्र में अकेला हो, सभी से उदासीन और उपेक्षित। सर्वेश्वर दयाल तो ऐसे स्थान को 'मृतनगर' कहते हैं जहां हर संबंध निस्सार है। एक बार बनकर जब संबंध टूटते हैं तो वे व्यक्ति को भी तोड़ जाते हैं:-

''दृष्टियां असंख्य मिलती है
लेकिन किसी भी पुतली मे
मुझे अपना अक्स नहीं दिखता,
हर संबंध की सीढ़ी से
उतरने के बाद।
मैं और अकेला छूट जाता हूँ
इस मृत नगर में। [14]

टूटते संबंधों में इस चित्र को देखते हुए यह प्रश्न स्वाभाविक हो जाता है कि कवि इस स्थिति के प्रति क्या रवैया रखता है? लगता है कि अपने अकेलेपन के चिन्तन से कवि बदलते हुए समाज को समझना चाहता है। और अन्ततः वह इस बिन्दु पर पहुँचता है कि समाज में उसे कोइ्र अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। बार-बार यह अनुभूति सालने लगती है कि नातों के जो अर्थ हम समझते थे, वे क्यों नहीं रहेः-

''अक्सर लगता हैः
बदल गए हैं अर्थः
प्रणाम के
प्यार के
बुनियादी सम्बन्धों के
और उन अनेक नामों के
जिनके लिए
उत्सव आयोजित थे।'' [15]

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट है कि समकालीन कविता सामाजिक सम्बन्धों की दरारों को अनेक प्रकार से उजागर करती है। कारण जीवन की यांत्रितकता हो या व्यावसायिकता, अर्थाभाव हो अथवा व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा- परिणाम यह है कि मनुष्य अपने अन्दर एक ऐसी रिक्तता अनुभव करता है जिसकी पूर्ति मानवीय स्नेह और आत्मीयता से हो सकती है। किन्तु यही चीज तो ऐसी है जो आज के युग में उपलब्ध नहीं। यह तथ्य नागर जीवन के सम्बन्ध में विशेषतया उल्लेखनीय है। समाज में एक ऐसी औपचारिकता एवं उपेक्षा-भाव है जिसे मानव के लिए अहसज ही कहा जा सकता है। यह स्थिति असहज होने पर भी यथार्थ है। लेकिन तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है। उसे देखकर ही एतद् सम्बन्धी किसी निष्कर्ष तक पहुँचना संगत होगा।

सामाजिक संबंधों में सौहार्द का एक रूप तो उन प्रबन्ध काव्यों से मिलता है जिनमें किन्हीं पात्रों द्वारा मित्रता, कृतज्ञता अथवा स्नेह-आदर के प्रदर्शन का प्रसंग आया है। उदाहरणार्थ 'रश्मिरथी' में दिनकर ने कर्ण और दुर्योधन की मित्रता का प्रसंग उठाया है। कर्ण दुर्योधन द्वारा उपकृत और मैत्रीभाव में बद्ध होने के कारण युद्धकाल में उसे त्यागकर अपने भाईयों के पास जाने को तत्पर नहीं होता। वह कृतध्न नहीं कहलाना चाहता। मित्र की मित्रता को वह अनमोल रत्न कहता हैः

अनूप शर्मा एवं ताराचन्द हारीत ने भी प्राचीन कथाओं के परिप्रेक्ष्य में मित्रता और कृतज्ञता को मानवता के लिए काम्य कहकर सामाजिक संबंधों में आस्था दिखलाई है। निश्चय ही इन रचनाओं का अपना महत्व है और समकालीन काव्य के मूल्यांकन में इन्हें तिरस्कृत नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु यह कहना होगा कि आधुनिक जीवन की विसंगतियों और जटिलताओं के अछूते रहने के कारण प्रस्तुत संदर्भ में इनका उल्लेख मात्र ही पर्याप्त जान पड़ता है। मुक्तिबोध ने मानव-मानव के बीच पनपने वाले किसी भी चिलचिलाते फासले को मिटाने का संकल्प किया है। अकेलेपन, रूक्षता और आत्मीयता के अभाव को दूर कर वे उन संबंधों के विकास की चर्चा करते हैं जिन्हें सारा समाज एक ललक से अपना ले:-

> ''हमने अपरिचय, बेरूखेपन
> और उपेक्षा की
> खरी भूरी पहाड़ी खोद डाली और
> उसमें से निकले जगमगाते रन्त
> मंगल शुक्र के कण
> अंशुमाली सूर्य
> के द्युति खण्ड तेजस्वी
> (हमारी जिन्दगी के ये)
> व इन नक्षत्र खण्डों को
> ललक कर ले लिया हमने, इसे देते, उसे देते,
> इन्हें देते, उन्हें देते।''[17]

मुक्तिबोध ने 'एक मित्र के प्रति' शीर्षक कविता में मित्रता को काव्य और प्रेरणास्पद बतलाया है। मित्रता का पत्र व्यक्ति के जीवन-संघर्ष में सहायक होता है। यहाँ जीवन के दोनों रूपों की तुलना है। वह स्थिति जब जीवन में अकेलापन है, स्नेहाभाव है और दूसरी वही जब आत्मीयता के संबंध जुड़े हुए है। दूसरी स्थिति की काव्यता बताकर कवयित्री ने सामाजिक संबंधों सौहार्द और आत्मीयता की मूल्यवत्ता पर बल दिया है। बच्चन ने होली को परिचय और आत्मीयता बढ़ाने वाला पर्व कहा है। जो निकट हैं निकटतर करने और जो पराये हो गये हैं, उन्हें अपना बनाने का यह पर्व भारत में अद्‌भुत है।

सामाजिक संबंधों में उपर्युक्त विश्लेषण से 'समकालीन कविता' में एतद् संबंधी दो विचारधााराएं स्पष्ट लक्षित की जा सकती हैं। प्रमुखधारा उन कवियों की रचनाओं की है जो समाज की विश्रृंखलित रूप में चित्रित करते हैं।

यहां सभी सम्बन्ध स्वार्थ-आधृत एवं अस्थिर है। नागर जीवन में यांत्रिकता एवं व्यावसायिकता की प्रवृत्ति के कारण व्यक्ति के जीवन एक ऐसी व्यस्तता छा गई है कि उसके लिए किसी संबंध का निर्वाह कर पाना संभव नहीं रहा। फलतः वह अपने अकेलेपन में जीने को अभिशप्त है। आर्थिक दबाव पड़ने के कारण भी वह परेशान रहता है, जिससे उसका हृदय भावना-शून्य होता जा रहा है। यहां प्रश्न यह है कि ऐसे चित्रण से कवि के किन मूल्यों की व्यंजना होती है? क्या कवि इस स्थिति को वांछनीय समझता है अथवा समाज के इस विघटन का स्वागत करता है? अधिकांश कवियों का दृष्टिकोण है कि नहीं। उनका स्वर खेद या विषाद का है। उनकी दृष्टि में ऐसा समाज आदर्श नहीं है, न ही ऐसे संबंधों को समाज की प्रगति का सूचक मानते हैं। यह तथ्य भी द्रष्टव्य है कि सामाजिक संबंधों के विघटन के उक्त समस्त विवेचन का आधार नागर जीवन है। कहना न होगा कि भारतीय समाज के सन्दर्भ में तो यह अंकन किसी भी प्रकार से पूर्ण नहीं कहा जा सकता। यह स्थिति केवल महानगरों तक सीमित है जो भारत का एक बहुत छोटा अंग है। महायुद्ध, औद्यौगिकरण का प्रभाव भी यहाँ यूरोप की तरह नहीं पड़ा। अतः उनके प्रभाव की चर्चा कुछ आरोपित लगती है किन्तु इसके बावजूद बदलते युग के साथ सामाजिक संबंधों के बदलाव स्वाभाविक ही है जिसका कुछ संकेत विवेच्य काव्य मिलता है।

अनेक कवियों की रचना, विशेषतः प्रबन्ध रचनाओं में सामाजिक संबंधों का चित्र इतिहास और पुराणों से गृहीत कथाओं के माध्यम से हुआ है। मुक्तिबोध बच्चन, गिरिजाकुमार माथुर जैसे कवि मानव में सौहार्द और अपनत्व की सहज भावनाओं का चित्रण भी करते हैं। यांत्रिक सभ्यता के दुष्प्रभाव की चर्चा करते हुए भी वे उसे दूर करने का संकल्प व्यक्त करते हैं। मानव में सामाजिकता की प्रवृत्ति शाश्वत है और इसी कारण वह समाज रचना में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के विनाश की कोई आशंका ऐसे कवियों की नहीं है। आलोच्यकालीन कविता में समाज की कोई ऐसी परिकल्पना नहीं मिलती, जिसमें स्नेह-सौहार्दपूर्ण संबंधों की आवश्यकता अनुभव न की गई हो, न ही इन संबंधों के किसी नवीन आधार को खोजा गया है। इसके विपरीत औपचारिकता, उपेक्षा, यांत्रिकता आदि के प्रति एक खोज है, जिससे सामाजिक संबंधों में सौहार्द की वांछनीयता व्यक्त होती है। इस प्रकार

नवीन परिवेश में टूटते संबंधों की छटपटाहट के बीच नवीन संबंधों की खोज समकालीन कविता में स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कुंवर नारायण : परिवेश हम तुम, पृ. 63
2. अज्ञेय: कितनी नावों में कितनी पार, पृ. 11, 12.
3. कीर्ति चौधरी: तार सप्तक (सं. अज्ञेय) पृ. 59
4. किरण जैन: स्वर परिवेश कं., पृ. 11
5. प्रारम्भ (सं. जगदीश चतुर्वेदी), पृ. 25
6. रवीन्द्रनाथ त्यागी: आदिम राग, पृ. 30
7. केशवचन्द्र शर्मा: वीणापाणि के कम्पाउण्ड में, पृ.65
8 वीरेन्द्र कुमार जैन: अनागता की आँखे, पृ: 62, 63
9. कैलाश वाजपेयी: संक्रान्त, पृ. 69, 65
10 कविताएं 1965 (सं. अजित कुमार, विश्वनाथ त्रिपाठी) पृ. 223
11. तीसरा सरतक : (सं. अज्ञेय) पृ. 61
12. प्रारम्भ: (सं. जगदीश चतुर्वेदी: नये काव्य की भूमिका), पृ. 9
13 प्रभाकर माचवे: मेपल, पृ.30
14. कविताएं 1965 (सं. अजित कुमार, विश्वनाथ त्रिपाठी) पृ. 293
15. पद्मधर त्रिपाठी : नयी कविता (अंक-8), पृ. 98
16-17. मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ. 6, 146